ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292RNI
REG. NO. UPBIL/2014/66218 **PP. No.- 64-66**

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e-I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-18, No.-IV, Issues-34, YEAR-Oct-Dec. 2024

भक्ति आन्दोलन में निहित सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना

1. प्रो0 सुशील कुमार सिंह
2. सरिता मिश्रा

1. अध्यक्ष, इतिहास विभाग के0एन0आई0पी0एस0एस0, सुल्तानपुर 2. शोध अध्येत्री, इतिहास, डॉ0 रा0म0लो0 अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या (उ0प्र0) भारत

Received-07.10.2024, Revised-13.10.2024, Accepted-18.10.2024 **E-mail : aaryvart2013@gmail.com**

सारांशः ***भक्ति आन्दोलन भारत में एक अति महत्वपूर्ण सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन के लिए प्रसिद्ध है। यह आन्दोलन 18वीं शताब्दी तक चला। इस भक्ति आन्दोलन ने कई वैचारिक–दार्शनिक प्रयत्न किये। विशेषतया भक्ति–दर्शन की नियोजन अति महत्वपूर्ण है। भक्तिकाव्य के व्यापक प्रसार से ज्ञात होता है कि मध्यकालीन परिवेश ने पूरे देश को प्रभावित किया। मध्यकाल में देवस्थलों के माध्यम से एक संपर्क था और इन सबके ऊपर एक समीपी सांस्कृतिक संवाद था जिसने भक्तिकाव्य को नई सर्जनात्मक ऊर्जा से सम्पन्न किया। एक कठिन समय में सार्थक रचना कैसे संभव हो सकती है, इसे भक्तिकाव्य ने प्रमाणित किया और साहित्य के इतिहास में इतनी लंबी आयु के रचना–आन्दोलन सरलता से नहीं मिलते। डी.पी. मुकर्जी ने स्वीकार किया है कि 'मध्यकालीन संतों का भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में सर्वाधिक अवदान साहित्य के क्षेत्र में है। उन्होंने प्रादेशिक भाषाओं में सामान्यजन को संबोधित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया'। के. दामोदरन ने भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य की ऐतिहासिक भूमिका स्वीकारते हैं–"मध्ययुग के इस महान् आंदोलन ने न केवल विभिन्न भाषाओं और विभिनन धर्मों वाले जनसमुदायों की एक सुसंबद्ध संस्कृति के विकास में मदद की, बल्कि सामंती दमन और उत्पीड़न के विरुद्ध संयुक्त संघर्ष चलाने का मार्ग भी प्रशस्त किया'। भक्ति आंदोलन एक प्रकार से ऐतिहासिक अनिवार्यता की उपज था, जिसकी वैचारिक–संवेदनात्मक अभिव्यक्ति भारतीय भक्तिकाव्य में होती है और जिसका व्यापक दृष्टिकोण प्रमाणित करता है कि सही रचना अपने समय से टकराने–अग्रसर होने का संकल्प भी है।***

कुंजीभूत शब्द– भक्ति आन्दोलन, सामाजिक चेतना, सद्भाव, वैचारिक–दार्शनिक, भक्तिकाव्य, सांस्कृतिक संवाद, सुसंबद्ध संस्कृति

भक्ति आंदोलन – मध्यकालीन भारत में धार्मिक सुधार हेतु भक्ति आन्दोलन का जन्म हुआ जिसकी शुरुआत 8वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में हुई। पश्चात में धीरे–धीरे उत्तर और पूर्वी भारत में फैल गया और 15वीं से 17वीं शताब्दी में चरम पर पहुँच गया। इस आन्दोलन का उद्देश्य भक्ति के माध्यम से धार्मिक सुधार लाना और भगवान के प्रति भक्ति को बढ़वा देना था। इस आन्दोलन के कवि और सन्तों को नयनार और अलवार के नाम से जाना जाता है। नयनार भगवान शिव के और अलवार भगवान विष्णु के भक्त थे। इस आन्दोलन का मूल सिद्धान्त महिलाओं, शूद्र और अछूत समुदाय के लोगों के आध्यात्मिक मोक्ष की प्रति जागरूकता पैदा करना था। इस आन्दोलन की अन्य शिक्षा इस प्रकार हैः

1. ईश्वर की पूजा भक्ति और प्रेम के माध्यम से करना।
2. ईश्वर के लिए सभी समान है। ईश्वर एक है।
3. ईश्वर को सिर्फ प्रेम, समर्पण और उसकी इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण से ही पाया जा सकता है।
4. सभी को स्वच्छ जीवन जीने की कोशिश करनी चाहिए।
5. सामाजिक एवं धार्मिक सुधार करना। जाति और वर्ग के आधार पर भेदभाव नहीं करना।

सामाजिक चेतना एवं सद्भाव– भक्ति आन्दोलन "भक्ति और प्रेम" के माध्यम से ईश्वर की पूजा करना, सामाजिक और धार्मिक सुधार कर समाज को जागरुक करना था। इसके प्रमुख नेता और अग्रणी समाज सुधार कबीरदास, गुरुनानक, मीराबाई, तुकाराम आदि प्रसिद्ध हैं। भक्ति आन्दोलन के अग्रणी का कथन है कि – 'शास्त्र–पांडित्य पहले भी मौजूद थे और भाष्य–व्याख्या का टीका दौर भी चल ही रहा था, किन्तु भक्तकवियों ने इस घेरे को तोड़ा। उन्हें अवसर था कि वे पंडिताई बघार सके, एक बौद्धिक आतंक जैसा, फैला सके किंतु उनका संवेदन कहीं अधिक जागरुक था। इस दृष्टि से भक्तिकाव्य सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना से परिचालित है और उसे 'सामाजिक–सांस्कृतिक सद्भाव का आंदोलन' कहा जा सकता है। शास्त्र–पांडित्य की जकबड़बंदी तोड़कर ही, रचना वृहत्तर संवेदन–जगत् में पहुँचती है। भक्ति आन्दोलन का आग्रह व्यापक जीवन के अनुभव पर आधारित है, जिससे मध्यकालीन समाज उसमें बिंबित होते हैं। सामंती परिवेश का दबाव झेलती रचनाशीलता, उसे गहरे स्तर पर महसूस करती है और विवरण–वृत्तान्त के संकेतों से आगे जाकर नैतिक चिंताओं से उलझती है। समय–समाज से विचार–संवेदन स्तर पर टकराना रचना का प्रस्थान है, किन्तु सही जीवन–दृष्टि के सहारे एक वैकल्पिक जगत् का संकेत कर सकने की क्षमता उसकी अभीप्सा है। भक्ति आन्दोलन के संदर्भ में जब लोकधर्म, लोकवाद, मानववाद आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, तब विचारणीय प्रश्न यह कि पुरागाथा के रूप में प्रचलित सामग्री को सुधारकों ने अपनी रचना में अंतर्भुक्त कैसे किया। इसी अर्थ में आन्दोलन के सांस्कृतिक पक्ष, समाजदर्शन का उल्लेख किया जाता है। भक्ति आन्दोलन निराकार–निर्गुण का आग्रह किया, जिसमें सर्वाधिक बल 'ज्ञान' पर है। निराकारी परिकल्पना भक्तिकाव्य में केवल वैचारिक प्रयत्न नहीं है, वह उस स्वार्थी व्यूह को छिन्न–भिन्न करने का उपक्रम भी है, जिसमें पुरोहितवाद–कर्मकांड– परिचालित धर्म–व्यवस्था थी, जहाँ अंधविश्वास फल–फूल रहे थे। निराकार–निर्गुण परिकल्पना से भक्तिकाव्य विवके, ज्ञान, शुद्ध आचरण, सात्त्विक प्रेम मूल्य–भरे कर्म का आग्रह करता है, जो परम्परा मराठी संत नामदेव, विद्रोही कबीर से होती हुई गुरु नानक तक चली आती है। नानक ने जातिवाद को नकारते हुए समाज के सदस्य–सामान्यजन को अपनाया।

नीचा अन्दरि नीच जाति, नीची हूँ अति नीच।
नानकु तिन कै संगि साथि बढ़िया सिऊ किया रीस।।

अनुरूपी लेखक/ संयुक्त लेखक

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e-I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-18, No.-IV, Issues-34, YEAR-Oct-Dec. 2024

साकार–निराकार, सगुण–निर्गुण के दार्शनिक–वैचारिक विवाद हैं, लेकिन जहाँ तक भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य में उनके प्रवेश का प्रश्न है, दोनों का ऐसा विभाजन उचित नहीं, जहाँ उनमें सम्पर्क ही न हो सके। निराकारी कल्पना कर्मकांड का विकल्प ज्ञान के स्तर पर खोजती हुई, कबीर जैसे कवियों की वाणी में अधिक आक्रामक है और व्यंग्य को माध्यम रूप में आ पाती है, किन्तु यह भी सत्य है कि नकार की यह भंगिमा भी प्रेम–भक्ति मार्ग की ओर अग्रसर होती है। कबीर–तुलसी के राम में अंतर है और सूर तथा तुकाराम के बिठोवा कृष्ण भी एक नहीं हैं, किन्तु सभी एक ही लक्ष्य की प्राप्ति का संदेश देते हैं। निर्गुण अधिक प्रगतिशील है और उसने सामान्य वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट किया। इसमें कबीर, नामदेव, रैदास, धर्मदास, सेना, दादू आदि का नाम उल्लेखनीय है। यह भी कहा जाता है कि कृष्णकाव्य अधिक उदारपंथी 'सेक्युलर' है और रामकाव्य उच्च वर्ण का संरक्षक। रहीम–रसखान आदि के उदाहरण भी इस संदर्भ में दिए जाते हैं। मुक्तिबोध ने मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन पर संक्षिप्त टिप्पणी करते हुए प्रश्न उठाया कि कबीर और निर्गुण पंथ के अन्य कवि तथा कुछ महाराष्ट्रीय तुलसीदास की अपेक्षा अधिक आधुनिक क्यों लगते हैं। इसका एक कारण यह भी कि निर्गुण में यथार्थ अधिक मुखर है। सगुण काव्य संभवतः परम्परा से पूरी तरह मुक्त न हो सका, इसलिए उसके कुछ वाक्यांशों को लेकर अनुदार टिप्पणियाँ की जाती रही हैं, जैसे वर्ण–व्यवस्था का पालन। किन्तु इन कवियों को यह एहसास भी है कि ज्ञानमार्ग सामान्यजन के लिए नहीं है, पंडितवर्ग के लिए है। सूरदास जी ने भी कहा है:

रूप–रेख–गुन–जाति–जुगति बिनु निरालंक कित धावै,
सब बिधि अगर बिचारहिं तातैं सूर सगुन पद गावै।

इसलिए राम–कृष्ण का आश्रय लिया गया, जिससे चित्त स्थिर व केन्द्रित हो कर एकाग्र हो सके।

भक्ति आन्दोलन की सामाजिक चेतना और समाजदर्शन की सही समझ के लिए जातिगत विभाजन से थोड़ा हटकर देखना होगा। इतिहास की इस सच्चाई की ओर ध्यान दें कि निहित स्वार्थों के वर्ग किसी जनांदोलन और वैचारिक क्रांति के आने पर पूरी तरह ध्वस्त नहीं हो जाते। वे कुछ समय के लिए डुबकी मार लेते हैं, चुप्पी साधते हैं, अथवा पार्श्व में जाकर बेहतर अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। एस0 तोकारेव ने लिखा है कि भारत में अवतार–पूजा ने अनेक संप्रदायों को जन्म दिया।[4] तुलसी को कम प्रगतिशील कह दिया जाता है, लेकिन सामाजिक चेतना जाग्रत करने में उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ा:

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ
तुलसी सरनाम गुलामु है राम को, जाको रुचै सो कहै कछु ओमाँगि कै
खैबो मसीत को सोइबो, लैबे को एकु न दैबे को दोऊ।[5]

समय से असंतोष का यह भाव हर सार्थक रचना का प्रस्थान है। सामंती समाज का विकल्प भक्ति आन्दोलन की चिंता है और वहाँ गहरे आत्मविश्वास के बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। कबीर विश्वास से कहते हैं कि जिस चादर को सुर–मुनि ने भी ओढ़कर मैला कर दिया, उसे मैंने बड़े यत्न से ओढ़ा और 'जस की तस धर दीन्हीं चदरिया।'

कबीर का विश्वास है–हम न मरैं, मरिहै संसारा। जायसी की, अपने प्रेम–पंथ में आस्था है : और वे स्वयं को 'मुहमद कवि जो प्रेम का' कवि कहते हैं जेइँ मुख देखा तेइँ हँसा, सुना तो आए आँसु। उसी प्रकार सूर की आस्था गोपियों के माध्यम से भी व्यक्त होती है, जिसे उद्धव तक सराहते हैं : ह्रदय तें नहिं टरत उनके, स्याम राम समेत। मीरा मध्यकाल में नारी–मुक्ति का काव्य रचती है : मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई। तुलसी विनयभाव के साथ हिन्दी के सबसे विश्वासी कवियों में हैं, जो परम्परा निराला तक देखी जा सकती है, जो स्वयं को 'वसंत का अग्रदूत' कहते हैं: ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत। रचना का आत्मविश्वास अभिव्यक्ति–कौशल से नहीं, मूल्य–जगत् से निर्मित होता है और रचना की अवधारणाएँ व्यापक जीवन की उपज होती हैं। इसलिए भक्ति आन्दोलन ने देवत्व के स्थान पर मनुष्य को प्राथमिकता दी। मतिदास ने कहा है कि–सनहु मानुष भाइ, शबार उपरे मानुष सत्य, ताहार ऊपर नाई। मनुष्य सर्वोपरि है। तुलसी के शब्दों में 'बड़े भाग मानुष तन पावा।'

तुलसी की भक्ति समाज के लिए अफीम नहीं थी। वह भक्ति का एक साधन थी। भक्त तुलसीदास मूलतः मानवतावादी हैं साहित्य की महत्ता वास्तविक सामाजिक संबंधों का वर्णन है। जनसाधारण की वेदना और उसके मुक्ति की कामना का, नैतिक गुणों का चित्रण करने में है, न कि सेवक–भाव से भिक्षा माँगने में।[6] विनयपत्रिका का दैन्य, कबीर का विद्रोह, जायसी की प्रेम–कल्पना, मीरा का प्रेम–भाव इसी पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। यह अपने समय का सांस्कृतिक चेतना खोजने का संकल्प बताता है। भक्ति आन्दोलन में भक्ति एक आचरित मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित है: भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा।

भक्तिकाव्य में भक्ति का जो स्वरूप विकसित होता दिखाई देता है, उसे मध्यकाल का लोकधर्म अथवा मानवधर्म कहना उचित होगा। सामंती समाज को देखते हुए इसकी सीमाएँ हैं, कई बार इन्हें अंतर्विरोध के रूप में भी देखा जा सकता है। नामवर सिंह ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का विवेचन करते हुए लिखा है : 'मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वन्द्व है, न कि इस्लाम और हिन्दू धर्म का संघर्ष।' इस स्थापना को अग्रसर करते हुए वे लिखते हैं: 'शासक वर्ग की विचारधारा के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त रहने के कारण लोकधर्म शास्त्र से हीन प्रतीत होते हुए भी उसका विकल्प बनकर उपस्थित होता है और यही उसकी शक्ति है। लोकधर्म का प्राण उसका विद्रोह है।'[7] भक्तिकाव्य और आन्दोलन शास्त्र की सीमाओं से परिचित है, इसका संकेत किया जा चुका है, इसलिए वह गहरे संवेदन के स्तर पर लोकजीवन को स्वीकारता है और उसे लोकभाषा में अभिव्यक्ति देता है।

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e-I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-18, No.-IV, Issues-34, YEAR-Oct-Dec. 2024

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है। इसे वे मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि संस्थापक मनोविकार मानते हैं।[8] भक्तिकाव्य और साहित्यों के प्रसंगों में इस करुणा–भाव की चर्चा इसलिए आवश्यक क्योंकि प्रायः इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता, जबकि वह अंतर्धारा की तरह पूरी रचनाशीलता में व्याप्त है, जिससे लोकधर्मी मानववाद का वृत्त पूरा होता है। जिसे भक्तिकाव्य का असंतोष कहा जाता है, उसके मूल में कहीं न कहीं करुणा का भाव विद्यमान है, अन्यथा वक्तव्यों और उपदेशों की पंक्तियाँ तो सरलता से लिखी जा सकती है। दृष्टि चारों ओर जाती है और कवि देखता है कि कहीं कुछ गड़बड़ है, इसे बदलना चाहिए।

भक्ति आन्दोलन में निहित सामाजिक सांस्कृतिक चेतना – भक्ति आन्दोलन में निहित सामाजिक चेतना अधोलिखित है ।

1. भक्ति आन्दोलन में सामाजिक समानता की भावना को बढ़ावा दिया और भेदभाव का विरोध किया।
2. धार्मिक सहिष्णुता की भावना को बढ़ावा। सभी धर्मों का सम्मान किया।
3. महिला अधिकारों की माँग की गयी। समान अधिकार और अवसर प्रदान किया गया।
4. शिक्षा और साक्षरता को बढ़ावा दिया गया। सभी को उपलब्ध कराने की माँग की गयी।
5. सामाजिक न्याय की माँग को बढ़ावा दिया। सभी को न्याय और समानता के अधिकार की माँग की नींव पड़ी।

इस प्रकार सामाजिक चेतना के अन्तर्गत सामाजिक समानता, महिला अधिकार और शिक्षा–साक्षरता पर बल दिया गया। सांस्कृतिक चेतना के अन्तर्गत भक्ति और प्रेम, नृत्य–संगीत और सामाजिक एकता की भावना को बढ़ावा दिया। सभी लोगों को एकजुट करने और सामाजिक एकता की भावना को बढ़ावा देने की माँग की गयी।

निष्कर्ष – भक्तिकाव्य अवरोधों को पार करता है और कई बंधन अस्वीकार कर देता है। व्यापक अर्थ में भक्ति आन्दोलन एक जाति–वर्णहीन व्यवस्था है। अपने समय का विकल्प, जो आगे के लिए भी राह दिखाती है। कहा गया कि जाति–पाँत पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई। प्रमुख जातियों का तनाव कम करने के लिए कबीर–जायसी भिन्न मार्गों से होते हुए, सांस्कृतिक सौमनस्य के एक ही गंतव्य पर पहुँचते हैं। कबीर में आक्रोश है, जो उनके प्रखर ईमान की उपज है और जिसके मूल में गहरी मूल्य–चिंताएँ हैं। उन्होंने मूलभूत प्रश्नों पर विचार किया कि यदि सब एक ही ईश्वर से निर्मित हैं, तो फिर संघर्ष कैसा ? दोनों सही मार्ग पर नहीं हैं – अरे इन दोहुन राह न पाई हिन्दू–तुरुक हटा नहिं मानैं, स्वाद सबन्हि को मीठा जाति न पूछो साध की, पूछि लीजिए ज्ञान। कबीर की गहन अनुभूतियाँ लोक संपृक्ति के साथ जो काव्यसंसार रचाती हैं, उन तक सामान्यजन की पहुँच है, इसलिए वे उनके प्रिय कवि और समाज सुधारक हैं। एक ओर कबीर का आक्रोश है, दूसरी ओर उनका जाति–वर्णहीन वैकल्पिक संसार है, जिन दोनों से मिलकर समग्र रचना–वृत्त पूरा होता है। उन्होंने जिस मूल्य–जगत् को परिकल्पित किया, उसमें निहित करुणाभाव की ओर प्रायः हमारा ध्यान नहीं जाता, लेकिन कवि की आकुलता का यही मूल प्रस्थान, विकसित होकर मूल्य–जगत् में पर्यवसित होता है। जिसे 'बिरहै कौ अंग' अथवा आध्यात्मिक वियोग कहा गया, उसे प्रश्न के स्थायी समाधान रूप में भी देखा जाना चाहिए। चकवा–चकवी के माध्यम से इसे व्यक्त किया गया है : 'रजनी आवत देखि कै, चकई दीन्हीं रोइ, चल चकवे वा देस में रैन कदे न होइ।' ऐसा मूल्य–संसार जहाँ क्षुद्रताएँ नहीं होतीं, परम जागरण लोक होता है। जिन तुलसी को वर्णाश्रम व्यवस्था और उच्च जातियों के समर्थक रूप में देखा जाता है, यह तुलसी का अनादर है। वे मस्जिद में सोने की बात करते हैं और कहते हैं : जाति–पाँति, धन–धरम बड़ाई, सब तजि तुम्हहिं रहहु लौं लाई। यह सांस्कृतिक चेतन का सशक्त उदाहरण कहा जा सकता है। जाति वर्ण के विल्व रूप में निष्काम भक्ति की प्रतिष्ठा भक्तिकाव्य की क्रांतिकारी परिकल्पना है। जायसी ने जिसे प्रेम–भाव के रूप में देखा, कबीर का वही ज्ञान मार्ग है, किन्तु दोनों समभावी लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। कवियों ने रचना का वैचारिक आधार निर्मित किया, और उसे काव्य के संवेदन–जगत् में अंतर्भुक्त किया। मराठी संतों ने, गुरु नानक ने बार–बार कहा कि भक्ति की जातिहीन व्यवस्था में सबका प्रवेश है। तर्क वही है कि सबका स्रष्टा विधाता है। इसलिए अलगाव की रेखाएँ समाप्त होनी चाहिए। मध्यकालीन कट्टरपंथियों से टकराते हुए भक्तिकाव्य ने सांस्कृतिक सौमनस्य का जो भाव प्रतिपादित किया, उसकी प्रासंगिकता लंबे समय तक बनी रहेगी। जिस एकेश्वरवाद का आग्रह भक्तिकाव्य में किया गया, उसकी व्याप्ति व्यापक है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. धुरजाति प्रसाद मुखर्जी, सोशियालॉजी ऑफ इंडियन कल्चर, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, पृ0–19.
2. के. दामोदरन, भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृ0–327.
3. रवीन्द्र गासो, गुरु नानक देव जी , अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, पृ0–135.
4. पांडुरंग वामन काणे, धर्म का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ0–227.
5. गोस्वामी तुलसीदास, कवितावली, गीताप्रेस, गोरखपुर पृ0–106.
6. रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, नईदिल्ली, पृ0–88.
7. नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज, राजकमल पंकाशन, नईदिल्ली पृ0–80.
8. रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि, इंडियन प्रस लि. प्रयाग, पृ0–46.

*****